श्री जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

पो० बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

पत्रिका नं० १३

आगमयुग का अनेकान्तवाद

ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया

जैनदर्शनाध्यापक, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

* * *

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'

'TRUTH ALONE MATTERS'

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY
P. O. Benares Hindu University.
Annas Eight

लेख और लेखक के विषय में

पण्डित श्री मालवणिया जैसे बहुश्रुत वैसे ही स्वतन्त्र चिन्तक भी हैं। उनका आगमों और दर्शनोंका अभ्यास–खास करके जैनदर्शनका अभ्यास–बहुत गहरा और बहुमुखी भी है। वे सिंघी जैन सिरिझ (भारतीय विद्याभवन) में शान्तिसूरिकृत जैन तर्कवार्तिक का सम्पादन कर रहे हैं। उक्त वार्तिक सिद्धसेन दिवाकरकृत न्यायावतार की गद्यपद्यमय विवृति है। इसका सम्पादन करते हुए श्रीयुत मालवणियाने अनेक दार्शनिक मुद्दों पर हिन्दी में विस्तृत टिप्पण लिखे हैं और एक बहुत विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी है जो सब थोड़े ही समय में विशिष्ट ग्रन्थरूप से प्रसिद्ध होने वाला है। प्रस्तावना में उन्होंने भगवान् महावीर से लेकर करीब हज़ार वर्ष तक में चर्चित, चिन्तित, संगृहीत और विकसित ऐसे जैन-दर्शनके प्राणभूत अनेकान्तवाद, सप्तभंगी तथा ज्ञानवादका ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिसे ऊहापोह किया है।

प्रस्तुत लेख उस विस्तृत ऊहापोहका एक भाग मात्र है। इसमें मुख्यतया आगमकालीन अनेकान्तवादका ही निरूपण है। इसमें जैसे वेद से लेकर उपनिषदों तक का चिन्तन पूर्वभूमिका रूप से आया है वैसे ही समकालीन तथागत बुद्धका तत्त्वचिन्तन भी आया है। पूर्वकालीन और समकालीन तत्त्वचिन्तन के साथ तुलना करके भगवान्के दृष्टिकोणका विशेषत्व लेखकने हस्तामलकवत् दर्शाया है। जहाँ तक हम जानते हैं वहाँ तक किसी विदेशी या देशी विद्वान् ने अभी तक ऐसा कोई व्यापक प्रयत्न नहीं किया है।

यह लेख जैसा जैन-दर्शनके उच्च अभ्यासियोंके लिए उपयोगी है वैसा ही दर्शनमात्रके उच्च अभ्यासियोंके लिए भी विचारप्रेरक है।

जिज्ञासुओंको जल्दी तथा सरलतासे सुलभ हो एवं पाठचक्रम में उपयोगी हो सके इस दृष्टि से हम निबंधको पत्रिकारूप से प्रसिद्ध कर रहे हैं। यदि तत्त्वजिज्ञासु धीरज से इसको पढ़ेंगे तो वे तत्त्वचिन्तनकी सच्ची दिशा को समझ सकेंगे।

शान्तिलाल व० शेठ
मंत्री, श्री जैन संस्कृति संशोधन मण्डल-बनारस

आगमयुग का अनेकान्तवाद

लेखक—श्री दलसुखभाई मालवणिया

जैनदर्शनाध्यापक—बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

प्रास्ताविक—

जैन दर्शनशास्त्रके विकासक्रमको चार युगोंमें[1] विभक्त किया जा सकता है—

१. आगम युग।
२. अनेकान्तस्थापन युग।
३. प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युग।
४. नवीनन्याय युग।

युगोंके लक्षण युगोंके नामसे ही स्पष्ट हैं। कालमर्यादा इस प्रकार रखी जा सकती है—आगमयुग भगवान् महावीरके निर्वाणसे लेकर करीब एक हजार वर्ष का है (वि० पू० ४७०–वि० ५००), दूसरा वि० पाँचवींसे आठवीं शताब्दी तक; तीसरा आठवींसे सत्रहवीं तक और चौथा अठारहवींसे आधुनिक समय-पर्यन्त। इन सभी युगोंकी विशेषताओंका मैंने अन्यत्र संक्षिप्तमें विवेचन किया है[2]। दूसरे, तीसरे और चौथे युगकी दार्शनिक सम्पत्तिके विषय में पू० पण्डित सुखलालजी, पण्डित कैलासचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमारजी आदि विद्वानोंने पर्याप्त मात्रामें प्रकाश डाला है किन्तु आगमयुगके साहित्यमें जैन-दर्शनके अनेकान्तवाद-के विषयमें क्या क्या मन्तव्य हैं उनका सङ्कलन पर्याप्त मात्रामें नहीं हुआ है। अतएव यहाँ जैन आगमोंके आधारसे अनेकान्तवादका विवेचन करनेका प्रयत्न किया जाता है। ऐसा होने से ही अनेकान्तयुगके विविध प्रवाहोंका उद्गम क्या है, आगममें वह है कि नहीं, है तो कैसा है यह स्पष्ट होगा इतना ही नहीं बल्कि जैन आचार्योंने मूल तत्त्वोंका कैसा पल्लवन और विकसन किया

---

[1] 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ'में मेरा लेख पृ० ३०३ तथा मण्डलकी पत्रिका नं० १

[2] वही।

तथा नवीन तत्त्वोंको तत्कालीन दार्शनिक विचारधारा में से अपना कर अपने तत्त्वोंको व्यवस्थित किया यह भी स्पष्ट हो सकेगा ।

आगमयुगके दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचनमें मैंने श्वेताम्बर प्रसिद्ध मूल आगमों का ही उपयोग किया है । दिगम्बरोंके मूल षट्खण्डागम आदिका उपयोग मैंने नहीं किया । उन शास्त्रोंका दर्शनके साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है । उन ग्रन्थोंमें जैन-कर्मतत्त्वका ही विशेष विवरण है ।

आगमिक दार्शनिक तत्त्व अनेकान्तके विवेचनके पहले वेदसे लेकर उपनिषद् पर्यन्त विचार-धाराके तथा बौद्ध त्रिपिटककी विचार-धाराके प्रस्तुतोपयोगी अंशका भी भूमिकारूपसे मैंने आकलन किया है—सो इस दृष्टिसे कि तत्त्व-विचारमें वैदिक और बौद्ध दोनों धाराओंके आघात-प्रत्याघातसे जैन आगमिक दार्शनिक चिन्तनधाराने कैसा रूप लिया—यह स्पष्ट हो जाय ।

[१]

भगवान् महावीरसे पूर्व की स्थिति

(अ) वेद्से उपनिषद् पर्यन्त—

विश्वके स्वरूपके विषयमें नाना प्रकारके प्रश्न[1] और उन प्रश्नोंका समाधान यह विविध प्रकारसे प्राचीनकालसे होता आया है—इस बातका साक्षी ऋग्वेदसे लेकर उपनिषद् और बादका समस्त दार्शनिक सूत्र और टीका साहित्य है ।

ऋग्वेदका दीर्घतमा ऋषि विश्वके मूल कारण और स्वरूपकी खोजमें लीन होकर प्रश्न करता है कि[2] 'इस विश्वकी उत्पत्ति कैसे हुई है ? इसे कौन जानता है ? है कोई ऐसा जो जानकारसे पूछ कर इसका पता लगावे ?' वह फिर कहता है कि[3] मैं तो नहीं जानता किन्तु खोजमें इधर-उधर विचरता हूँ तो वचनके द्वारा सत्यके दर्शन होते हैं । खोज करते-करते दीर्घतमाने अन्तमें कह दिया कि[4] "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।" सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान् उसका वर्णन कई प्रकारसे करते हैं । अर्थात् एक ही तत्त्वके विषयमें नाना प्रकारके वचनप्रयोग देखे जाते हैं ।

१—ऋग्वेद १०. ५, २७, ८८, १२९ इत्यादि । तैत्तिरीयोपनिषद् ३. १ । श्वेता० १.१ ।

२—ऋग्वेद १. १६४. ४ । ३—ऋग्वेद १. १६४. ३७ । ४—ऋग्वेद १. १६४. ४६ ।

दीर्घतमाके इस उद्गारमें ही मनुष्यस्वभावकी विशेषताका हमें स्पष्ट दर्शन होता है जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं। इसी समन्वयशीलताका शास्त्रीय रूप जैन-दर्शन-सम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

नासदीयसूक्तका[1] ऋषि जगत्के आदिकारण उस परम गभीर तत्त्वको जब न सत् कहना चाहता है और न असत्, तब यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषि अज्ञानी या संशयवादी था किन्तु इतना ही समझना चाहिए कि ऋषिके पास उस परम तत्त्वके प्रकाशनके लिए उपयुक्त शब्द न थे। शब्दकी इतनी शक्ति नहीं है कि वह परम तत्त्वको सम्पूर्ण रूपमें प्रकाशित कर सके। इसलिए ऋषिने कह दिया कि उस समय न सत् था न असत्। शब्दशक्तिकी इस मर्यादाके स्वीकारमेंसे ही स्याद्वादका और अस्वीकारमेंसे ही एकान्तवादों का जन्म होता है।

विश्वके कारणकी जिज्ञासामेंसे अनेक विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए जिनका निर्देश उपनिषदोंमें हुआ है। जिसको सोचते-सोचते जो सूझ पड़ा उसे उसने लोगोंमें कहना शुरू किया। इस प्रकार मतोंका एक जाल बन गया। जैसे एक ही पहाड़मेंसे अनेक दिशाओंमें नदियाँ बहती हैं उस प्रकार एक ही प्रश्नमेंसे अनेक मतोंकी नदियाँ बहने लगीं। और ज्यों ज्यों वह देश और कालमें आगे बढ़ी त्यों त्यों विस्तार बढ़ता गया। किन्तु वे नदियाँ जैसे एक ही समुद्र में जा मिलती हैं[2] उसी प्रकार सभी मतवादों का समन्वय महासमुद्र रूप स्याद्वाद या अनेकान्तवादमें हो गया है।

विश्वका मूलकारण क्या है? वह सत् है या असत्? सत् है तो पुरुष है या पुरुषेतर-जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से कोई एक? इन प्रश्नोंका उत्तर उपनिषदोंके ऋषियोंने अपनी अपनी प्रतिभाके बलसे दिया है[3]। और इस विषय में नाना मतवादोंकी सृष्टि खड़ी कर दी है।

किसीके मतसे असत्से ही सत्की उत्पत्ति हुई है[4]। कोई कहता है[5]—प्रारम्भमें मृत्युका ही साम्राज्य था, अन्य कुछ भी नहीं था। उसीमेंसे सृष्टि

---

[1] ऋग्वेद १०. १२९।

[2] "उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥"
—सिद्धसेनद्वात्रिंशिका ४-१५।

[3] Constructive Survey of Upanishads P. 73

[4] 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत"। तैत्तिरी० २. ७

[5] "नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" बृहदा० १.२.१।

हुई। इस कथनमें भी एक रूपकके जरिये असत्से सत्की उत्पत्ति का ही स्वीकार है।

किसी ऋषिके मतसे असत्से सत् हुआ और वही अण्ड बन कर सृष्टिका उत्पादक हुआ [1]।

इन मतोंके विपरीत सत्कारणवादिओंका कहना है कि असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सर्वप्रथम एक और अद्वितीय सत् ही था। उसीनें सोचा मैं अनेक होऊँ। तब क्रमशः सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है [2]।

सत्कारणवादिओंका भी ऐकमत्य नहीं। किसीने जलको, किसीने वायुको किसीने अग्निको, किसीने आकाशको और किसीने प्राणको विश्वका मूल कारण माना [3]।

इन सभी वादोंका सामान्य तत्त्व यह है कि विश्वके मूल कारण रूपसे कोई आत्मा या पुरुष नहीं है। किन्तु इन सभी वादोंके विरुद्ध अन्य ऋषियोंका मत है कि इन जड़ तत्त्वोंमेंसे सृष्टि उत्पन्न हो नहीं सकती, सर्वोत्पत्तिके मूलमें कोई चेतन तत्त्व कर्त्ता होना चाहिये।

पिप्पलाद ऋषिके मतसे प्रजापतिसे सृष्टि हुई है [4]। किन्तु बृहदारण्यकमें आत्माको मूलकारण मानकर उसीमेंसे स्त्री और पुरुषकी उत्पत्तिके द्वारा क्रमशः संपूर्ण विश्वकी सृष्टि मानी गई है [5]। ऐतरेयोपनिषद्में भी सृष्टि-क्रम में भेद होने पर भी मूल कारण तो आत्मा ही माना गया है [6]। यही बात तैत्तिरीयोपनिषद् के विषयमें भी कही जा सकती है [7]। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि आत्माको उत्पत्तिका कर्त्ता नहीं बल्कि कारण मात्र माना गया है।

---

[1] "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत।" छान्दो० ३. १९. १।

[2] "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"। छान्दो० ६. २.।

[3] बृहदा० ५. ५. १.। छान्दो० ४. ३। कठो० २. ५. ९. छान्दो० १. ९. १। छान्दो० १. ११. ५। ४. ३. ३.।

[4] प्रश्नो० १. ३। १३।

[5] बृहदा० १. ४. १-४। [6] ऐतरेय० १. १. ३.। [7] तैत्तिरी० २. १.।

अर्थात् अन्यत्र स्पष्ट रूपसे आत्मा या प्रजापतिमें सृष्टिकर्तृत्वका आरोप है जब कि इसमें आत्माको सिर्फ मूल कारण मानकर पंचभूतोंकी संभूति उस आत्मासे हुई है इतना ही प्रतिपाद्य है। मुण्डकोपनिषद्में जड़ और चेतन सभी की उत्पत्ति दिव्य, अमूर्त और अज ऐसे पुरुषसे मानी गई है[1]। यहाँ भी उसे कर्त्ता नहीं कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में विश्वाधिप देवाधिदेव रुद्र ईश्वरको ही जगत्कर्ता माना गया है और उसी को मूल कारण भी कहा गया है[2]।

उपनिषदोंके इन वादों को संक्षिप्तमें कहना हो तो कहा जा सकता है कि किसीके मतसे असत्से सत्की उत्पत्ति होती है, किसीके मतसे विश्वका मूलतत्त्व सत् जड़ है और किसीके मतसे वह सत् तत्त्व चेतन है।

एक दूसरी दृष्टिसे भी कारणका विचार प्राचीन कालमें होता था। उसका पता हमें श्वेताश्वतरोपनिषद्से चलता है। उसमें ईश्वरको ही परम तत्त्व और आदि कारण सिद्ध करनेके लिये जिन अन्य मतोंका निराकरण किया गया है वे ये हैं:[3]—

१ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ भूत, ६ पुरुष, ७ इन सभी का संयोग, ८ आत्मा।

उपनिषदोंमें इन नाना वादोंका निर्देश है अतएव उस समय पर्यन्त इन वादों का अस्तित्व था ही इस बातका स्वीकार करते हुए भी प्रो० रानडेका कहना है[4] कि उपनिषद्कालीन दार्शनिकोंकी दर्शनक्षेत्रमें जो विशिष्ट देन है वह तो आत्मवाद है।

अन्य सभी वादोंके होते हुए जिस वादने आगेकी पीढ़ीके ऊपर अपना असर कायम रखा और जो उपनिषदोंका खास तत्त्व समझा जाने लगा वह तो आत्मवाद ही है। उपनिषदोंके ऋषि अन्तमें इसी नतीजे पर पहुँचे कि विश्वका मूल कारण या परम तत्त्व आत्मा ही है। परमेश्वरको भी, जो संसारका आदि कारण है, श्वेताश्वतरमें 'आत्मस्थ' देखनेको कहा है—

"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" ६. १२।

---

[1] मुण्ड० २. १. २-९। [2] श्वेता० ३. २। ६. ९।

[3] "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥" श्वेता० १. २।

[4] Constructive survey of Upanishads Ch. VI. P.246

छान्दोग्य का निम्न वाक्य देखिए—

"अथातः आत्मादेशः आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।" छान्दो० ७. २५ ।

बृहदारण्यकमें उपदेश दिया गया है कि—

"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।" २. ४. ५. ।

उपनिषदोंका ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं किन्तु आत्मा ही ब्रह्म है—"अयमात्मा ब्रह्म"—बृहदा० २. ५. १९. ।

इस प्रकार उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मवाद या ब्रह्मवादमें है ऐसा जो कहा जाता है वह उस कालके दार्शनिकोंका उस वादके प्रति जो विशेष पक्षपात था उसीको लक्ष्यमें रखकर है ।

परमतत्त्व आत्मा या ब्रह्मको उपनिषदोंके ऋषियोंने शाश्वत, सनातन, नित्य, अजन्य ध्रुव माना है[1] ।

इसी आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्वको जड़ और चेतन जगत्का उपादान कारण, निमित्त कारण या अधिष्ठान मानकर दार्शनिकोंने केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या शुद्धाद्वैतका समर्थन किया है। इन सभी वादोंके अनुकूल वाक्योंकी उपलब्धि उपनिषदोंमें होती है अतः इन सभी वादोंके बीज उपनिषदोंमें है ऐसा मानना युक्तिसंगत ही है[2] ।

उपनिषद् कालमें कुछ लोग महाभूतसे आत्माका समुत्थान और महाभूतोंमें ही आत्माका लय मानने वाले थे किन्तु उपनिषद्कालीन आत्मवादके प्रचण्ड प्रवाहमें उस वादका कोई खास मूल्य नहीं रह गया । इस बातकी प्रतीति बृहदारण्यकनिर्दिष्ट याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीके संवादसे हो जाती है । मैत्रेयीके सामने जब याज्ञवल्क्यने भूतवादकी चर्चा छेड़कर कहा कि "विज्ञानघन इन भूतोंसे ही समुत्थित होकर इन्हींमें लीन हो जाता है, परलोक या

---

[1] १. कठो १. २. १८ । २. ६. १. । १. ३. १५ । २. ४. [illegible] । श्वेता० २. १५ । मुण्डको० १. ६ । इत्यादि ।

[2] २. Constructive Survey of Upanishads. P. 205—232

पुनर्जन्म जैसी कोई बात नहीं है" ।[1] तब मैत्रेयीने कहा कि ऐसी बात कहकर हमें मोहमें मत डालो । इससे स्पष्ट है कि आत्मवादके सामने भूतवादका कोई मूल्य नहीं रह गया था ।

प्राचीन उपनिषदोंका काल प्रो० रानडेने ई० पू० १२०० से ६०० तक माना है[2] । यह काल भगवान् महावीर और बुद्धके पहलेका है । अतः हम कह सकते हैं कि उन दोनों महापुरुषोंके पहले भारतीय दर्शनकी स्थिति जाननेका साधन उपनिषदोंसे बढ़कर अन्य कुछ हो नहीं सकता । अतएव हमने ऊपर उपनिषदोंके आधारसे ही भारतीय दर्शनोंकी स्थिति पर कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है । उस प्रकाशके आधार पर यदि हम जैन और बौद्ध दर्शनके मूल तत्त्वोंका विश्लेषण करें तो दार्शनिक क्षेत्रमें जैन और बौद्ध शास्त्रकी क्या देन है यह सहज ही में विदित हो सकता है । प्रस्तुतमें विशेषतः जैन तत्त्वज्ञानके विषयमें ही कहना इष्ट है इस कारण बौद्ध दर्शनके तत्त्वोंका उल्लेख तुलनाकी दृष्टिसे प्रसंगवश ही किया जायगा और मुख्यतः जैनदर्शनके मौलिक तत्त्व की विवेचना की जायगी ।

(आ) भगवान् बुद्धका अनात्मवाद

भगवान् महावीर और बुद्धके निर्वाणके विषयमें जैन-बौद्ध अनुश्रुतियोंको यदि प्रमाण माना जाय तो फलित यह होता है कि भगवान् बुद्धका निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था अतएव उन्होंने अपनी इहजीवनलीला भगवान् महावीरसे पहले समाप्त की थी और उन्होंने उपदेश भी भगवान्के पहले ही देना शुरु किया था । यही कारण है कि वे पार्श्व-परंपराके चातुर्यामका उल्लेख करते हैं । उपनिषद्कालीन आत्मवादकी बाढ़ को भगवान् बुद्धने अनात्मवादका उपदेश देकर मंद किया । जितने वेगसे आत्मवादका प्रचार हुआ और सभी तत्त्वके मूलमें एक परम तत्त्व शाश्वत आत्मा को ही माना जाने लगा उतने ही वेगसे भगवान् बुद्धने उस वादकी जड़ काटनेका प्रयत्न किया । भगवान् बुद्ध विभज्यवादी थे । अतएव उन्होंने रूप आदि ज्ञात वस्तुओं को एक-एक करके अनात्म सिद्ध किया । उनकी दलीलका क्रम ऐसा है:[3]—

---

[1] "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञा अस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।" बृहदा० २. ४. १२ ।

[2] Op. Cit., P. 13

[3] संयुत्त निकाय XII. 70. 32—37.

"क्या रूप अनित्य है या नित्य ?

अनित्य ।

जो अनित्य है वह सुख है या दुःख ?

दुःख ।

जो चीज अनित्य है, दुःख है, विपरिणामी है क्या उसके विषयमें इस प्रकार के विकल्प करना ठीक है कि–यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है ?

नहीं ।"

इसी क्रमसे वेदना[१], संज्ञा, संस्कार और विज्ञानके विषयमें[२] भी प्रश्न करके भगवान् बुद्धने अनात्मवाद को स्थिर किया है। इसी[३] प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ उनके विषय, तज्जन्य विज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान–इन सबको भी अनात्म सिद्ध किया है ।

कोई भ० बुद्धसे पूछता कि जरा-मरण क्या है और किसे होता है, जाति क्या है और किसे होती है, भव क्या है और किसे होता है ? तो तुरन्त ही वे उत्तर देते कि ये प्रश्न ठीक नहीं । क्योंकि प्रश्नकर्ता इन सभी प्रश्नोंमे ऐसा मान लेता है कि जरा आदि अन्य हैं और जिसको ये जरा आदि होते हैं वह अन्य है । अर्थात् शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है । किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्मचर्यवास धर्माचरण संगत नहीं । अतएव भगवान् बुद्धका कहना है कि प्रश्नका आकार ऐसा होना चाहिये–जरा कैसे होती है ? जरा-मरण कैसे होता है ? जाति कैसे होती है ? भव कैसे होता है ? तब भगवान् बुद्ध का उत्तर है कि ये सब प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं । मध्यममार्गका अवलंबन लेकर भगवान् बुद्ध समझाते हैं कि शरीर ही आत्मा है ऐसा मानना एक अन्त है और शरीरसे भिन्न आत्मा है ऐसा मानना दूसरा अन्त है किन्तु मैं इन दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यममार्गसे उपदेश देता हूँ कि:—

"अविद्याके होनेसे संस्कार, संस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नामरूप, नामरूपके होनेसे छः आयतन, छः आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जाति–जन्म, जन्मके होनेसे जरा-मरण है यह प्रतीत्यसमुत्पाद है ।"[४]

---

[१] दीघनिकाय महानिदानसुत्त १५ । [२] पृ० ७ टिप्पण ३ देखो ।

[३] मज्झिमनिकाय छक्कसुत्त १४ ।

[४] संयुत्तनिकाय XII. 35 २. अंगुत्तरनिकाय 3.

आनन्दने एक प्रश्न भगवान् बुद्धसे किया कि आप बारबार लोक शून्य है ऐसा कहते हैं इसका तात्पर्य क्या है ? बुद्धने जो उत्तर दिया उसीसे बौद्धदर्शन की अनात्म विषयक मौलिक मान्यता व्यक्त होती है:—

"यस्मा च खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुञ्ञो लोको ति वुच्चति। किं च आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा; चक्खुं खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा······रूपं······रूपविञ्ञाणं······" इत्यादि। —संयुत्तनिकाय XXXX. 85

भगवान् बुद्धके अनात्मवादका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऊपरकी चर्चासे इतना तो भलीभाँति ध्यानमें आता है कि भगवान् बुद्धको सिर्फ शरीरात्मवाद ही अमान्य है इतना ही नहीं बल्कि सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत ऐसा आत्मवाद भी अमान्य है। उनके मतमें न तो आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीरसे अभिन्न है। उनको चार्वाकसम्मत भौतिकवाद भी एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदोंका कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त प्रतीत होता है। उनका मार्ग तो मध्यममार्ग है, प्रतीत्यसमुत्पादवाद है।

वही अपरिवर्तिष्णु आत्मा मर कर पुनर्जन्म लेती है और संसरण करती है ऐसा मानने पर शाश्वतवाद[1] होता है और यदि ऐसा माना जाय कि माता-पिताके संयोगसे चार महाभूतोंसे आत्मा उत्पन्न होती है और इसीलिये शरीरके नष्ट होते ही आत्मा भी उच्छिन्न-विनष्ट और लुप्त होती है, तो यह उच्छेदवाद है।

तथागत बुद्धने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को छोड़कर मध्यम मार्गका उपदेश दिया है। भगवान् बुद्धके इस अशाश्वतानुच्छेदवादका स्पष्टीकरण निम्न संवादसे होता है—

'क्या भगवन् गौतम ! दुःख स्वयंकृत है ?'

'काश्यप ! ऐसा नहीं है'।

'क्या दुःख परकृत है ?'

'नहीं।'

'क्या दुःख स्वकृत और परकृत है ?'

'नहीं।'

---

[1] दीघनिकाय, १, ब्रह्मजाल सुत्त।

[2] संयुक्तनिकाय XII. 17.

'क्या अस्वकृत और अपरकृत दुःख है ?'

'नहीं।'

तब क्या है ? आप तो सभी प्रश्नोंका उत्तर नकारमें देते हैं, ऐसा क्यों ?

'दुःख स्वकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जिसने किया वही भोग करता है। किन्तु ऐसा कहने पर शाश्वतवादका अवलंबन होता है—
और यदि ऐसा कहूँ कि दुःख परकृत है तो इसका मतलब यह होगा कि किया दूसरेने और भोग करता है कोई अन्य। ऐसी स्थितिमें उच्छेदवाद आ जाता है। अतएव तथागत उच्छेदवाद और शाश्वतवाद इन दोनों अन्तोंको छोड़कर मध्यम-मार्गका—प्रतीत्यसमुत्पादका—उपदेश देते हैं कि 'अविद्यासे संस्कार होता है, संस्कारसे विज्ञान ······स्पर्शसे दुःख······इत्यादि''

संयुत्तनिकाय XII 17. XII 24

तात्पर्य यह है कि संसारमें सुख-दुःख इत्यादि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, बन्ध है, मुक्ति है—ये सब होते हुए भी इनका कोई स्थिर आधार आत्मा है ऐसी बात नहीं है परन्तु ये अवस्थाएँ पूर्व पूर्व कारणसे उत्तर-उत्तर कालमें होती हैं और एक नये कार्यको, एक नई अवस्थाको उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है। इस प्रकार संसारका चक्र चलता रहता है। पूर्वका सर्वथा उच्छेद भी इष्ट नहीं और ध्रौव्य भी इष्ट नहीं। उत्तर पूर्वसे सर्वथा असंबद्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नहीं किन्तु पूर्वके अस्तित्वके कारण ही उत्तर होता है। पूर्वकी सारी शक्ति उत्तर में आ जाती है। पूर्वका कुल संस्कार उत्तरको मिल जाता है। अतएव पूर्व अब उत्तररूपमें अस्तित्वमें है, उत्तर पूर्वसे सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं, किन्तु अव्याकृत, है क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेद-वाद होता है और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है। भगवान् बुद्धको ये दोनों वाद मान्य न थे अतएव ऐसे प्रश्नोंका उन्होंने अव्याकृत[१] कह कर उत्तर दिया है।

इस संसार-चक्रको काटनेका उपाय यही है कि पूर्वका निरोध करना। कारणके निरुद्ध हो जानेसे कार्य उत्पन्न नहीं होगा अर्थात् अविद्याके निरोधसे ·······तृष्णाके निरोधसे उपादानका निरोध, उपादानके निरोधसे भवका निरोध, भवके निरोधसे जन्मका निरोध, जन्मके निरोधसे मरणका निरोध हो जाता है।

---

[१] संयुत्तनिकाय XLIV. 1; XLIV 7; XLIV 8;

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है कि मरणानन्तर तथागत बुद्धका क्या होता है ? इस प्रश्नका उत्तर भी अव्याकृत है वह इसलिये कि यदि यह कहा जाय कि मरणोत्तर तथागत होता है तो शाश्वतवादका और यदि कहा जाय कि नहीं होता तो उच्छेदवादका प्रसंग आता है । अतएव इन दोनों वादों का निषेध करनेके लिये भगवान् बुद्धने तथागतको मरणोत्तर दशामें अव्याकृत कहा है । जैसे गंगाके बालूका नाप नहीं, जैसे समुद्रके पानीका नाप नहीं इसीप्रकार मरणोत्तर तथागत भी गंभीर है, अप्रमेय है अतएव अव्याकृत है । जिस रूप, वेदना, संज्ञा आदिके कारण तथागतकी प्रज्ञापना होती थी वह रूपादि तो प्रहीण हो गये । अब तथागतकी प्रज्ञापनाका कोई साधन नहीं बचता इसलिये वे अव्याकृत हैं[१] ।

इस प्रकार जैसे उपनिषदोंमें आत्मवादकी वा ब्रह्मवादकी परकाष्ठाके समय आत्मा या ब्रह्मको 'नेति-नेति'के द्वारा अवक्तव्य प्रतिपादित किया गया है, उसे सभी विशेषणोंसे पर बताया गया है[२] ठीक उसी प्रकार तथागत बुद्धने भी आत्माके विषयमें उपनिषदोंसे बिल्कुल उलटा राह लेकर भी उसे अव्याकृत माना है । जैसे उपनिषदोंमें परम तत्त्वको अवक्तव्य मानते हुए भी अनेक प्रकारसे आत्माका वर्णन हुआ है और वह व्यावहारिक माना गया है और उसी प्रकार भगवान् बुद्धने भी कहा है कि लोकसंज्ञा, लोकनिरुक्ति, लोकव्यवहार, लोकप्रज्ञप्तिका आश्रय करके कहा जा सकता है कि "मैं पहले था, 'नहीं था' ऐसा नहीं; मैं भविष्यमें होऊँगा, 'नहीं होऊँगा' ऐसा नहीं; मैं अब हूँ, 'नहीं हूँ' ऐसा नहीं ।" तथागत ऐसी भाषाका व्यवहार करते हैं किन्तु इसमें फँसते नहीं[३] ।

(इ) प्राचीन जैनतत्त्वविचार

इतनी वैदिक और बौद्ध दार्शनिक पूर्व भूमिकाके आधार पर जैन दर्शनकी आगमवर्णित भूमिकाके विषयमें विचार किया जाय तो उचित ही होगा । जैन

---

[१] संयुत्तनिकाय XLIV.

[२] "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।" माण्डु ६. ७ । "स एष नेति नेति इत्यात्माऽग्राह्यो न हि गृह्यते ।" बृहदा० ४. ५. १५ । इत्यादि । रानडे, Op. Cit., P. 219.

[३] दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त ९ ।

आगमोंमें जो तत्त्व-विचार है वह तत्कालीन दार्शनिक विचार-भूमिकासे सर्वथा अछूता रहा होगा इस बातका अस्वीकार करते हुए भी जैन अनुश्रुतिके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैनआगमवर्णित तत्त्वविचारका मूल भगवान् महावीरके समयसे भी पुराना है। जैन अनुश्रुतिके अनुसार भगवान् महावीरने किसी नये तत्त्वदर्शनका प्रचार नहीं किया है किन्तु उनसे २५० वर्ष पहले होनेवाले तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके तत्त्वविचार का ही प्रचार किया है। पार्श्वनाथ-सम्मत आचारमें तो भगवान् महावीरने कुछ परिवर्तन किया है जिसकी साक्षी स्वयं आगम दे रहे हैं किन्तु पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानसे उसका कोई मतभेद जैन अनुश्रुतिमें बताया गया नहीं है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि जैन तत्त्व-विचारके मूल तत्त्व पार्श्वनाथ जितने तो पुराने अवश्य हैं।

जैन अनुश्रुति तो इससे भी आगे जाती है। उसके अनुसार अपने से पहले हुए कृष्ण के समकालीन तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिकी परम्परा को ही पार्श्वनाथने ग्रहण किया था और स्वयं अरिष्टनेमिने प्रागैतिहासिक कालमें होने वाले नमिनाथ से। इस प्रकार वह अनुश्रुति हमें ऋषभदेव, जो कि भरत चक्रवर्तीके पिता थे, तक पहुँचा देती है। उसके अनुसार तो वर्तमान वेदसे लेकर उपनिषद् पर्यन्त संपूर्ण साहित्यका मूलस्रोत ऋषभदेव-प्रणीत जैनतत्त्वविचारमें ही है।

इस जैन अनुश्रुतिके प्रामाण्यको ऐतिहासिक दृष्टिसे सिद्ध करना संभव नहीं है तो भी अनुश्रुतिप्रतिपादित जैनविचार की प्राचीनता में संदेह को कोई स्थान नहीं है। जैनतत्त्वविचार की स्वतन्त्रता इसी से सिद्ध है कि जब उपनिषदों में अन्य दर्शनशास्त्रके बीज मिलते हैं तब जैनतत्त्वविचारके बीज नहीं मिलते। इतना ही नहीं किन्तु भगवान् महावीरप्रतिपादित आगमोंमें जो कर्म विचार की व्यवस्था है, मार्गणा और गुणस्थान सम्बन्धी जो विचार है, जीवोंकी गति और आगति का जो विचार है, लोककी व्यवस्था और रचनाका जो विचार है, जड़ परमाणु पुद्गलों की वर्गणा और पुद्गलस्कन्ध का जो व्यवस्थित विचार है, षड्द्रव्य और नवतत्त्वका जो व्यवस्थित निरूपण है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैनतत्त्वविचारधारा भगवान् महावीरसे पूर्वकी कई पीढ़ियोंके परिश्रमका फल है और इस धाराका उपनिषद् प्रतिपादित अनेक मतोंसे पार्थक्य और स्वातंत्र्य स्वयंसिद्ध है।

[२]

भगवान् महावीर की देन—अनेकान्तवाद

प्राचीन तत्त्व-व्यवस्थामें भगवान महावीरने क्या नया अर्पण किया इसे जानने के लिये आगमोंसे बढ़कर हमारे पास कोई साधन नहीं है। जीव और अजीव के भेदोपभेदोंके विषयमें, मोक्षलक्षी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति क्रमके सोपानरूप गुणस्थानके विषयमें, चार प्रकारके ध्यानके विषयमें या कर्मशास्त्रके सूक्ष्म भेदोपभेदों के विषयमें या लोकरचनाके विषयमें या परमाणुओंकी विभिन्न वर्गणाओंके विषय में भगवान् महावीरने कोई नया मार्ग दिखाया हो, यह तो आगमोंको देखनेसे प्रतीत नहीं होता। किन्तु तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्रमें तत्त्वके स्वरूपके विषयमें जो नये-नये प्रश्न उठते रहते थे उनका जो स्पष्टीकरण भगवान् महावीरने तत्कालीन अन्य दार्शनिकोंके विचारके प्रकाशमें किया है वही उनकी दार्शनिक क्षेत्रमें देन समझना चाहिये। जीवका जन्म-मरण होता है यह बात नई नहीं थी, परमाणुके नानाकार्य बाह्य जगत्में होते हैं और नष्ट होते हैं यह भी स्वीकृत था किन्तु जीव और परमाणुका कैसा स्वरूप माना जाय जिससे उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके घटित होते रहने पर भी जीव और परमाणुका उन अवस्थाओंके साथ सम्बन्ध बना रहे। यह और ऐसे प्रश्न तत्कालीन दार्शनिकोंके द्वारा उठाये गये थे और उन्होंने अपना-अपना स्पष्टीकरण भी किया था। इन नये प्रश्नोंका भगवान् महावीरने जो स्पष्टीकरण किया वही उनकी दार्शनिक क्षेत्रमें नई देन है। अतएव आगमोंके आधार पर भगवान् महावीर की उस देन पर विचार किया जाय तो बादके जैन दार्शनिक विकासकी मूल भित्ति क्या थी यह सरलतासे स्पष्ट हो सकेगा।

ईसाके बाद होने वाले जैनदार्शनिकोंने जैन तत्त्वविचारको अनेकान्तवादके नामसे प्रतिपादित किया है और भगवान् महावीरको उस वादका उपदेशक बताया है[1]। उन आचार्योंका उक्त कथन कहाँ तक ठीक है और प्राचीन आगममें अनेकान्तवादके विषयमें क्या कहा गया है उसका दिग्दर्शन कराया जाय तो सहज ही में मालूम हो जायगा कि भगवान् महावीरने समकालीन दार्शनिकोंने अपनी विचार-धारा किस ओर बहाई और बादमें होनेवाले जैन आचार्योंने उस विचार-धाराको लेकर उसमें क्रमशः कैसा विकास किया?

(अ) चित्रविचित्रपक्षयुक्त पुंस्कोकिलका स्वप्न–[2]

भगवान् महावीर को केवलज्ञान होनेके पहले जिन दश महास्वप्नोंका दर्शन

---

[1] लघीयस्त्रय का० ५९। [2] भगवती शतक १६. उद्देशक ६

हुआ था उनका उल्लेख भगवती सूत्रमें आया है । उनमें तीसरा स्वप्न इस प्रकार है:—

“एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।” अर्थात्–एक बड़े चित्र विचित्र पाँखवाले पुंस्कोकिल को स्वप्नमें देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए ।

इस महास्वप्नका फल बताते हुए कहा गया है कि “जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्तं जाव पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति····” अर्थात् उस स्वप्नका फल यह है कि भगवान् महावीर विचित्र ऐसे स्वपर सिद्धान्तको बताने वाले द्वादशांगका उपदेश देंगे । प्रस्तुतमें चित्रविचित्र शब्द खास ध्यान देने लायक है । बादके जैनदार्शनिकोंने जो चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और नैयायिक-वैशेषिकके सामने अनेकान्तवाद को सिद्ध किया है, वह इस चित्रविचित्र शब्द को पढ़ते समय याद आ जाता है । किन्तु प्रस्तुतमें उसका सम्बन्ध न भी हो तब भी पुंस्कोकिलके पांख को चित्रविचित्र कहनेका और आगमों को विचित्र विशेषण देनेका खास तात्पर्य तो यह मालुम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी अनेकान्तवाद माना गया है । चित्रविचित्र विशेषणसे सूत्रकारने यह ध्वनित किया है ऐसा निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यदि भगवान्के दर्शनकी विशेषता और प्रस्तुत चित्रविचित्र विशेषणका कुछ मेल बिठाया जाय तब यह संभावना की जा सकती है कि वह विशेषण साभिप्राय है और उससे सूत्रकारने भगवान्के उपदेशकी विशेषता अर्थात् अनेकान्तवाद को ध्वनित किया हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।

[३]

विभज्यवाद

सूत्रकृतांगमें भिक्षु कैसी भाषाका प्रयोग करे ? इस प्रश्नके प्रसंगमें कहा गया है कि विभज्यवादका प्रयोग[1] करना चाहिये । विभज्यवादका मतलब ठीक समझनेमें हमे जैन टीका-ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ भी सहायक होते हैं । बौद्ध मज्झिमनिकाय (सुत्त. ९९) में शुभ माणवकके प्रश्नके उत्तरमें भ० बुद्धने कहा कि–“हे माणवक ! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं । ” उसका प्रश्न था कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक

---

[1] “विभज्जवायं च वियागरेज्जा” सूत्रकृतांग १. १४. २२ ।

नहीं होता। इसमें आपकी क्या राय है ? इस प्रश्नका एकांशी हाँ में या नहीं में उत्तर न देकर भगवान् बुद्धने कहा कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाणमार्गका आराधक नहीं और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हो तभी आराधक होते हैं। अपने ऐसे उत्तरके बल पर वे अपने आपको विभज्यवादी बताते हैं और कहते हैं कि मैं एकांशवादी नहीं हूँ।

यदि वे ऐसा कहते कि गृहस्थ आराधक नहीं होता, त्यागी आराधक होता है या ऐसा कहते कि त्यागी आराधक होता है, गृहस्थ आराधक नहीं होता तब उनका वह उत्तर एकांशवाद[1] होता। किन्तु प्रस्तुतमें उन्होंने त्यागी या गृहस्थ की आराधकता और अनाराधकतामें जो अपेक्षा या कारण था उसे बताकर दोनों को आराधक और अनाराधक बताया है। अर्थात् प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है अतएव वे अपने आपको विभज्यवादी कहते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् बुद्ध सर्वदा सभी प्रश्नोंके उत्तर में विभज्यवादी नहीं थे। किन्तु जिन प्रश्नोंका उत्तर विभज्यवादसे ही संभव था उन कुछ ही प्रश्नोंका उत्तर देते समय ही वे विभज्यवादका अवलंबन लेते थे[2]।

उपर्युक्त बौद्धसूत्र से एकांशवाद और विभाज्यवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है। जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवादका भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। ऐसी स्थितिमें सूत्रकृतांगगत विभज्यवादका अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद या अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्वके विवेचनका वाद भी लिया जाय तो ठीक ही होगा। अपेक्षाभेदसे स्यात्शब्दांकित प्रयोग आगम में देखे जाते हैं। एकाधिक भंगोंका स्याद्वाद भी आगममें मिलता है। अतएव आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवाद को स्याद्वाद भी कहा जाय तो अनुचित नहीं।

भगवान् बुद्धका विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्रमें था और भगवान् महावीरके विभज्यवादका क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है कि जैनदर्शन आगे जाकर अनेकान्तवादमें परिणत हो गया और बौद्ध दर्शन किसी अंशमें विभज्यवाद होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।

---

१. देखो –दीघनिकाय–३३ संगीति परियाय

२. उसी सुत्तमें चार प्रश्न व्याकरण

भगवान् बुद्धके विभाज्यवादकी तरह भगवान् महावीरका विभज्यवाद भी भगवतीगत प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट होता है। गणधर गौतम आदि और भगवान् महावीरके प्रश्नोत्तर नीचे दिये जाते हैं जिनसे भगवान् महावीरके विभज्यवाद की तुलना भ० बुद्धके विभज्यवादसे करनी सरल हो सके :—

(१)

गौतम—कोई यदि ऐसा कहे कि–'मैं सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वसत्त्वकी हिंसाका प्रत्याख्यान करता हूँ' तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान ?

भ० महावीर–स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौ०–भन्ते! इसका क्या कारण है ?

भ०–जिसको यह भान नहीं कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर; उसका वैसा प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है। किन्तु जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वह सत्यवादी है।

—भगवती श० ७, उ० २, सू० २७०

(२)

जयंती–भंते! सोना अच्छा है या जागना ?

भ० महावीर–जयन्ती! कितनेक जीवोंका सोना अच्छा है और कितनेक जीवोंका जागना अच्छा है।

ज०–इसका क्या कारण है ?

भ० महावीर–जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं अधार्मिकवृत्तिवाले हैं, वे सोते रहें यही अच्छा है। क्योंकि जब वे सोते होंगे तब अनेक जीवों को पीड़ा नहीं देंगे। और इसप्रकार स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रियामें नहीं लगावेंगे अतएव उनका सोना अच्छा है।

किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, धार्मिकवृत्ति वाले हैं उनका तो जगना ही अच्छा है। क्योंकि ये अनेक जीवोंको सुख देते हैं और स्व, पर और उभयको वे धार्मिक अनुष्ठानमें लगाते हैं अतएव उनका जागना ही अच्छा है।

जयन्ती०–भन्ते! बलवान् होना अच्छा है या दुर्बल ?

भ० महावीर—जो जीव अधार्मिक यावत् अधार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका दुर्बल होना अच्छा है। क्योंकि वे बलवान् हों तो अनेक जीवों को दुःख देंगे।

किन्तु जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिकवृत्ति वाले हैं उनका सबल होना ही अच्छा है क्योंकि उनके सबल होनेसे वे अधिक जीवोंको सुख पहुँचावेंगे।

इसी प्रकार अलसत्व और दक्षत्वके प्रश्नका भी विभाग करके भगवान्ने उत्तर दिया है।

—भगवती श० १२, उ० २. सू० ४४३।

(३)

गौतम–भन्ते ! जीव सकम्प है या निष्कम्प ?[1]

भ० महावीर–गौतम ! जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौतम–इसका क्या कारण है ?

भ० महावीर–जीव दो प्रकारके हैं–संसारी और मुक्त। मुक्त जीवके दो प्रकार हैं–अनन्तर-सिद्ध और परम्पर-सिद्ध। परंपर-सिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तर सिद्ध सकम्प। संसारी जीवोंके भी दो प्रकार हैं–शैलेशी और अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प होते हैं।

—भगवती श० २५, उ० ४

(४)

गौ०–जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

भ० महावीर–जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी।

गौ०–इसका क्या कारण ?

भ० महावीर–जीव दो प्रकारके हैं–संसारी और मुक्त। मुक्त तो अवीर्य हैं। संसारी जीवके दो भेद हैं–शैलेशी-प्रतिपन्न और अशैलेशी-प्रतिपन्न। शैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य हैं किन्तु करणवीर्य की अपेक्षासे अवीर्य हैं और अशैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य हैं किन्तु करणवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी। जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य हैं और जो अपराक्रमी हैं वे करणवीर्यकी अपेक्षासे अवीर्य हैं।

—भगवती श० १, उ० ८, सू० ७२

---

[1] मूलमें सेय-निरेय (सेज-निरेज) है। तुलना करो–"तदेजति तन्नैजति ईशावास्योपनिषद् ५।

भगवान् बुद्ध के विभज्यवाद की तुलना में और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु इतने पर्याप्त हैं। इस विभज्यवाद का मूलाधार विभाग करके उत्तर देना है जो ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है। असल बात यह है कि दो विरोधी बातों का स्वीकार एक सामान्य में करके उसी एक को विभक्त करके दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताना इतना अर्थ इस विभज्यवाद का फलित होता है। किन्तु यहाँ एक बात की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। भ० बुद्ध जब किसीका विभाग करके विरोधी धर्मों को घटाते हैं और भगवान् महावीरने जो उक्त उदाहरणों में विरोधी धर्मों को घटाया है उससे स्पष्ट है कि वस्तुतः दो विरोधी धर्म एक कालमें किसी एक व्यक्ति के नहीं बल्कि भिन्न भिन्न व्यक्तिओं के हैं या भिन्नकालमें एक व्यक्तिके हैं। विभज्यवाद का मूल अर्थ यह हो सकता है जो दोनों महापुरुषों के वचनों में एक रूपसे आया है।

किन्तु भगवान् महावीर ने इस विभज्यवादका क्षेत्र व्यापक बनाया है। उन्होंने विरोधी धर्मों को अर्थात् अनेक अन्तों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाया है। इसी कारण से विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ और इसी लिये भगवान् महावीर का दर्शन आगे चलकर अनेकान्तवाद के नामसे प्रतिष्ठित हुआ।

तिर्यक् सामान्य की अपेक्षा से जो विशेष व्यक्तियाँ हैं उन्हीं व्यक्तिओं में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना यही विभज्यवाद का मूलाधार है जब कि तिर्यग् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकारके सामान्यों के पर्यायों में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना यह अनेकान्तवाद का मूलाधार है। अनेकान्तवाद विभज्यवादका विकसित रूप है अतएव वह विभज्यवाद तो है ही पर विभज्यवाद ही अनेकान्तवाद है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव जैन दार्शनिकों ने अपने वाद को जो अनेकान्तवादके नाम से ही विशेषरूप से प्रख्यापित किया है वह सर्वथा उचित ही हुआ है।

[४]

अनेकान्तवाद

भगवान् महावीर ने जो अनेकान्तवाद की प्ररूपणा की है उसके मूल में तत्कालीन दार्शनिकों में से भगवान् बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण

स्थान है। स्याद्वाद के भंगों की रचना में संजय बेलट्ठीपुत्त के विक्षेपवाद[1] से भी मदद ली गई हो यह संभव है। किन्तु भगवान् बुद्ध ने तत्कालीन नाना वादों से अलिप्त रहने के लिये जो रुख अंगीकार किया था उसी में अनेकान्तवाद का बीज है ऐसा प्रतीत होता है। जीव और जगत् तथा ईश्वर के नित्यत्व-अनित्यत्व के विषय में जो प्रश्न होते थे उनको उन्हों ने अव्याकृत बता दिया। इसी प्रकार जीव और शरीर के विषय में भेदाभेद के प्रश्न को भी उन्होंने अव्याकृत कहा है जब कि भ० महावीर ने उन्हीं प्रश्नों का व्याकरण अपनी दृष्टि से किया है। अर्थात् उन्हीं प्रश्नों को अनेकान्तवाद के आश्रय से सुलझाया है। उन प्रश्नों के स्पष्टीकरण में से जो दृष्टि सिद्ध हुई उसी का सार्वत्रिक विस्तार करके अनेकान्तवाद को सर्ववस्तुव्यापी उन्हों ने बना दिया है। यह स्पष्ट है कि भ० बुद्ध दो विरोधी वादों को देखकर उनसे बचने के लिये अपना तीसरा मार्ग उनके अस्वीकार में ही सीमित करते हैं तब भ० महावीर उन दोनों विरोधी वादों का समन्वय करके उनके स्वीकार में ही अपने नये मार्ग–अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा करते हैं। अतएव अनेकान्तवाद की चर्चा का प्रारंभ बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों से किया जाय तो उचित ही होगा।

अव्याकृत प्रश्न

भगवान् बुद्ध ने निम्नलिखित प्रश्नों को अव्याकृत[2] कहा है।

(१) लोक शाश्वत है ?
(२) लोक अशाश्वत है ?
(३) लोक अन्तवान् है ?
(४) लोक अनन्त है ?
(५) जीव और शरीर एक हैं ?
(६) जीव और शरीर भिन्न हैं ?
(७) मरने के बाद तथागत होते हैं ?
(८) मरने के बाद तथागत नहीं होते ?
(९) मरने के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते ?
(१०) मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं ?

इन प्रश्नों का संक्षेप तीन ही प्रश्नों में है–लोक की नित्यता, अनित्यता और

---

[1] दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त

[2] मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्य सुत्त ६।

सान्तता-निरन्तता का प्रश्न, जीव-शरीर के भेदाभेद का प्रश्न और तथागत की मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति अर्थात् जीव की नित्यता-अनित्यता का प्रश्न* । ये ही प्रश्न भगवान् बुद्ध के जमाने के महान् प्रश्न थे । और इन्हींके विषय में भ० बुद्ध ने एक तरह से अपना मत देते हुये भी वस्तुतः विधायक रूप से कुछ नहीं कहा । यदि वे लोक या जीव को नित्य कहते तो उनको उपनिषन्मान्य शाश्वतवाद को स्वीकार करना पड़ता और यदि वे अनित्य पक्ष को स्वीकार करते तब चार्वाक-जैसे भौतिकवादिसम्मत उच्छेदवाद को स्वीकार करना पड़ता । इतना तो स्पष्ट है कि उनको शाश्वतवाद में भी दोष प्रतीत हुआ था और उच्छेदवाद को भी वे अच्छा नहीं समझते थे । इतना होते हुए भी अपने नये वाद को कुछ नाम देना उन्होंने पसंद नहीं किया और इतना ही कह कर रह गये कि ये दोनों वाद ठीक नहीं । अतएव ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त बता दिया और कह दिया कि लोक शाश्वत हो या अशाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही । मैं तो इन्हीं जन्म-मरण के विघात को बताता हूँ । यही मेरा व्याकृत है । और इसी से तुम्हारा भला होने वाला है । शेष लोकादि की शाश्वतता आदि के प्रश्न अव्याकृत हैं, उन प्रश्नों का मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया ऐसा ही समजो[१] ।

इतनी चर्चा से स्पष्ट है कि भ० बुद्ध ने अपने मन्तव्य को विधिरूप से न रख कर अशाश्वतानुच्छेदवाद का ही स्वीकार किया है । अर्थात् उपनिषन्मान्य नेति नेति की तरह वस्तुस्वरूप का निषेधपरक व्याख्यान करने का प्रयत्न किया है । ऐसा करने का कारण स्पष्ट यही है कि तत्काल में प्रचलित वादों के दोषों की ओर उनकी दृष्टि गईऔर इसीलिये उनमें से किसी वाद का अनुयायी होना उन्होंने पसंद नहीं किया । इस प्रकार उन्होंने एक प्रकार से अनेकान्तवाद का रास्ता-साफ़ किया । भगवान् महावीर ने तत्तद्वादों के दोष और गुण दोनों की ओर दृष्टि दी । प्रत्येक वाद का गुणदर्शन उस उस वाद के स्थापक ने प्रथम से कराया ही था । उन विरोधी वादों में दोषदर्शन भ० बुद्ध ने किया तब भगवान् महावीर के सामने उन वादों के गुण और दोष दोनों आ गये । दोनों पर समान भाव से दृष्टि देने पर अनेकान्तवाद स्वतः फलित हो जाता है । भगवान् महावीर ने तत्कालीन वादों के गुणदोषों की परीक्षा करके जितनी जिस वाद में सच्चाई थी उसे उतनी ही मात्रा

---

* इस प्रश्न को ईश्वर के स्वतन्त्र अस्तित्व या नास्तित्वका प्रश्न भी कहा जा सकता है ।

[१] मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्य सुत्त ६ ।

में स्वीकार करके सभी वादों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। यही भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद या विकसित विभज्यवाद है। भगवान् बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधिरूप से देना नहीं चाहते थे उन सभी प्रश्नों का उत्तर देने में अनेकान्तवाद का आश्रय करके भगवान् महावीर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वाद के पीछे रही हुई दृष्टिको समझाने का प्रयत्न किया। प्रत्येक वाद की मर्यादा क्या है, अमुक वाद का उत्थान होने में मूलतः क्या अपेक्षा होनी चाहिए इस बात की खोज की और नयवाद के रूप में उस खोज को दार्शनिकों के सामने रखा। यही नयवाद अनेकान्तवाद का मूलाधार बन गया।

अब मूल जैनागमों के आधार पर ही भगवान् के अनेकान्तवाद का दिग्दर्शन कराना उपयुक्त होगा।

पहले उन्हीं प्रश्नों को लिया जाता है जिनको कि भ० बुद्ध ने अव्याकृत बताया है। ऐसा करने से यह स्पष्ट होगा कि जहाँ बुद्ध किसी एक वाद में पड़ जाने के भय से निषेधात्मक उत्तर देते हैं वहाँ भ० महावीर अनेकान्तवाद का आश्रय करके किस प्रकार विधिरूप उत्तर दे कर अपना अपूर्व मार्ग प्रस्थापित करते हैं—

लोक की नित्यानित्यता—सान्तानन्तता

उपर्युक्त बौद्ध अव्याकृत प्रश्नों में प्रथम चार लोक की नित्यानित्यता और सान्तानन्तता के विषय में हैं। उन प्रश्नों के विषय में भगवान् महावीर का जो स्पष्टीकरण है वह भगवती में स्कन्दक[1] परिव्राजक के अधिकार में उपलब्ध है। उस अधिकार से और अन्य अधिकारों से यह सुविदित है कि भगवान् ने अपने अनुयायियों को लोक के सम्बन्ध में होनेवाले उन प्रश्नों के विषय में अपना स्पष्ट मन्तव्य बता दिया था जो अपूर्व था। अतएव उनके अनुयायी अन्य तिर्थिकों से इसी विषय में प्रश्न करके उन्हें चूप किया करते थे। इस विषय में भगवान् महावीर के शब्द ये हैं :—

"अन्तवं निइए लोए इइ धीरोत्ति पासई"।[2]
'एवं खलु मए खंदया ? चउव्विहे लोए पन्नत्ते तंजहा–
दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।
दव्वओ णं एगे लोए सअंते १।

---

[1] शतक २. उद्देशक १
[2] शतक ९. उद्देशक ६। सूत्रकृतांग १. ४. ६—

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पन्नत्ता, अत्थि पुण सअंते २।

कालओ णं लोए य कयावि न आसी न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति, भविसु य भवति य भविस्सइ य धुवे णितिए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अन्ते ३ ।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंध० रस० फासपज्जवा अणंता संठाण पज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुय पज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते ४ ।

से तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते खेतओ लोए सअंते कालतो लोए अणन्ते भावओ लोए अणंते । —भग० २. १. ९०

इसका सार यह है कि लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है क्योंकि वह संख्या से एक है। किन्तु भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से लोक अनन्त है क्योंकि लोक-द्रव्य के पर्याय अनन्त है।

काल की दृष्टि से लोक अनन्त है अर्थात् शाश्वत है क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें लोक का अस्तित्व न हो। किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है क्योंकि सकल क्षेत्र में से कुछ ही में लोक[1] है अन्यत्र नहीं ।

इस उद्धरण में मुख्यतः सान्त और अनन्त शब्दों को लेकर अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है । भगवान् बुद्धने लोक की सान्तता और अनन्तता दोनों को अव्याकृत कोटि में रखा है । तब भगवान् महावीर ने लोक को सान्त और अनन्त अपेक्षाभेद से बताया है ।

अब लोक की शाश्वतता–अशाश्वतता के विषय में जहाँ भ० बुद्ध ने अव्याकृत कहा वहाँ भ० महावीर का अनेकान्तवादी मन्तव्य क्या है उसे उन्हीं के शब्दों में सुनिये :—

"सासए लोए जमाली ! जन्न कयावि णासी णो कयावि ण भवति ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं, च भवई य भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ।

---

[1] लोक का मतलब है पञ्चास्तिकाय। पञ्चास्तिकाय संपूर्ण आकाश-क्षेत्र में नहीं किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है असंख्यात कोटा-कोटी योजन की परिधि में है ।

असासए लोए जमाली ! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ उस्सप्पिणी भवित्ता ओस्सप्पिणी भवइ। –भग० ९. ३८. ७.

जमाली अपने आप को अर्हत् समजता था किन्तु जब लोक की शाश्वतता अशाश्वतता के विषय में गौतम गणधर ने उससे प्रश्न पूछा तब वह उत्तर न दे सका तिस पर भगवान् महावीर ने उपर्युक्त समाधान यह कह कर किया कि यह तो एक सामान्य प्रश्न है। इसका उत्तर तो मेरे छद्मस्थ शिष्य भी दे सकते हैं।

जमाली ! लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी। त्रिकाल में ऐसा एक भी समय नहीं जब लोक किसी न किसी रूप में न हो अतएव वह शाश्वत है। किन्तु वह अशाश्वत भी है क्योंकि लोक हमेशा एक रूप तो रहता नहीं। उस में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कारण अवनति और उन्नति भी देखी जाती है। एक रूप में–सर्वथा शाश्वत में–परिवर्तन नहीं होता अतएव उसेअशाश्वत भी मानना चाहिए।

लोक क्या है ?

प्रस्तुतमें लोकसे भ० महावीरका क्या अभिप्राय है यह भी जानना जरूरी है उसके लिये नीचेके प्रश्नोत्तर पर्य्याप्त हैं—

"किमियं भंते ! लोए त्ति पवुच्चइ ?"

गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोए त्ति पवुच्चइ, तं जहा–धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए जाव (आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए) पोग्गलत्थिकाए। –भग० १३. ४. ४८१

अर्थात्–पाँच अस्तिकाय ही लोक है। पाँच अस्तिकाय ये हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।

जीव-शरीर का भेदाभेद

जीव और शरीरका भेद है या अभेद ? इस प्रश्नको भी भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा है। इस विषयमें भगवान् महावीरके मन्तव्यको निम्न संवादसे जाना जा सकता है:—

"आया भन्ते ! काये अन्ने काये ?"

"गोयमा आया वि काये अन्ने वि काये।"
"रूवि भन्ते ! काये अरूवि काये ?"
"गोयमा ! रूवि पि काये अरूवि पि काये।"
एवं एक्केक्के पुच्छा।

"गोयमा ! सच्चित्ते वि काये अच्चित्ते वि काये।" –भग० १३. ७. ४९५

उपर्युक्त संवादसे स्पष्ट है कि भ० महावीरने गौतमके प्रश्नके उत्तरमें आत्माको शरीरसे अभिन्न भी कहा है और उससे भिन्न भी कहा है। ऐसा कहने पर और दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि यदि शरीर आत्मासे अभिन्न है तो आत्माकी तरह वह अरूपी भी होना चाहिए और सचेतन भी। इन प्रश्नोंका उत्तर भी स्पष्टरूपसे दिया गया है कि काय अर्थात् शरीर रूपी भी है और अरूपी भी। शरीर सचेतन भी है और अचेतन भी।

जब शरीरको आत्मासे पृथक् माना जाता है तब वह रूपी और अचेतन है। और जब शरीरको आत्मासे अभिन्न माना जाता है तब शरीर अरूपी और सचेतन है।

भगवान् बुद्धके मतसे यदि शरीरको आत्मासे भिन्न माना जाय तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। और यदि अभिन्न माना जाय तब भी ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। अतएव इन दोनों अन्तोंको छोड़कर भगवान् बुद्धने मध्यम मार्गका उपदेश दिया और शरीरके भेदाभेदके प्रश्नको अव्याकृत बताया।

"तं जीवं तं सरीरं ति भिक्खु ! दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु ! दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु ! उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।"
–संयुत्त० XII 35

किन्तु भगवान् महावीरने इस विषयमें मध्यममार्ग–अनेकान्तवादका आश्रय लेकर उपर्युक्त दोनों विरोधी वादोंका समन्वय किया। यदि आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न माना जाय तब कायकृत कर्मोंका फल नहीं मिलना चाहिए। अत्यन्त भेद मानने पर इस प्रकार अकृतागम दोषकी आपत्ति है। और यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाय तब शरीरका दाह हो जानेपर आत्मा भी नष्ट होगी जिससे परलोक संभव नहीं रहेगा। इसप्रकार कृतप्रणाश दोषकी आपत्ति होगी। अतएव इन्हीं दोषोंको देखकर भगवान् बुद्धने कह दिया कि भेदपक्ष और अभेदपक्ष—ये दोनों ठीक नहीं हैं। जब कि भगवान् महावीरने दोनों

विरोधी वादोंका समन्वय किया और भेद और अभेद दोनों पक्षोंका स्वीकार किया। एकान्त भेद और अभेद मानने पर जो दोष होते हैं वे उभयवाद मानने पर नहीं होते। जीव और शरीरका भेद इसलिए मानना चाहिये कि शरीरका नाश हो जाने पर भी आत्मा दूसरे जन्ममें मौजूद रहती है या सिद्धावस्थामें अशरीरी आत्मा भी होती है। अभेद इसलिये मानना चाहिये कि संसारावस्थामें शरीर और आत्माका क्षीर-नीरवत् या अग्निलोहपिण्डवत् तादात्म्य होता है इसीलिये कायसे किसी वस्तुका स्पर्श होने पर आत्मामें संवेदन होता है और कायिक कर्मका विपाक आत्मामें होता है।

भगवतीसूत्रमें जीवके परिणाम दश गिनाये हैं यथा–गति परिणाम, इन्द्रिय परिणाम, कषाय परिणाम, लेश्या परिणाम, योग परिणाम, उपयोग परिणाम, ज्ञान परिणाम, दर्शनपरिणाम, चारित्रपरिणाम, और वेदपरिणाम।–भग० १४.४.५१४

जीव और कायका यदि अभेद न माना जाय तो इन परिणामोंको जीवके परिणामरूपसे नहीं गिनाया जा सकता।

इसी प्रकार भगवती में (१२. ५. ४५१) जो जीवके परिणामरूपसे वर्ण, गन्ध, स्पर्श का निर्देश है वह भी जीव और शरीर के अभेदको मान कर ही, घटाया जा सकता है। अन्यत्र गौतमके प्रश्न में निश्चयपूर्वक भगवान् ने कहा है कि–

गोयमा ! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं बुज्झामि······ जं णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदगस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पन्नयति तंजहा–कालत्ते वा जाव सुक्किलत्ते वा, सुब्भिगंधत्ते वा दुब्भिगंधत्ते वा, तित्ते वा जाव महुरत्ते वा, कक्खडत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा ········"–भग० १७. २.

अन्यत्र जीवके कृष्णवर्ण पर्याय का भी निर्देश है।–भग० २५. ४.। ये सभी निर्देश जीव शरीर के अभेदकी मान्यता पर निर्भर हैं।

इसी प्रकार आचारांग में आत्मा के विषयमें जो ऐसे शब्दों का प्रयोग है:—

"सव्वे सरा नियट्टन्ति तक्का जत्थ न विज्जति, मई तत्थ न गाहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि।"— आचा० सूत्र १७०

वह भी संगत नहीं हो सकता यदि आत्मा शरीर से भिन्न माना न जाय। शरीरभिन्न आत्मा को लक्ष्य करके स्पष्ट रूप से भगवान् ने कहा है कि उस में वर्ण,गन्ध, रस-स्पर्श नहीं होते।—

"गोयमा ! अहं एयं जाणामि जाव जं णं तहागयस्स जीवस्स अरूविस्स अकम्मस्स अरागस्स अवेदस्स अमोहस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एयं पन्नयति-तंजहा कालत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा।"

—भगवती १७. २

चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता था और औपनिषद ऋषिगण आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। भ० बुद्ध को इन दोनों मतों में दोष तो नजर आया किन्तु वे विधिरूपसे समन्वय न कर सके। जब कि भगवान् महावीर ने इन दोनों मतों का समन्वय उपर्युक्त प्रकारसे भेद और अभेद दोनों पक्षों का स्वीकार करके किया।

जीवकी नित्यानित्यता

मृत्युके बाद तथागत होते हैं कि नहीं ? इस प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा है क्यों कि ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर सार्थक नहीं, आदि-ब्रह्मचर्यके लिये नहीं, निर्वेद, निरोध, अभिज्ञा, संबोध और निर्वाणके लिये भी नहीं।[1]

आत्माके विषयमें चिन्तन करना यह भ० बुद्धके मतसे अयोग्य है। जिन प्रश्नोंको भ० बुद्धने 'अयोनिसो मनसिकार'-विचारका अयोग्य ढंग—कहा है वे ये हैं—"मैं भूतकालमें था कि नहीं था ? मैं भूतकालमें क्या था ? मैं भूतकालमें कैसा था ? मैं भूतकालमें क्या होकर फिर क्या हुआ ? मैं भविष्यत् कालमें होऊंगा कि नहीं ? मैं भविष्यत् कालमें क्या होऊंगा ? मैं भविष्यत् कालमें कैसे होऊंगा ? मैं भविष्यत् कालमें क्या होकर क्या होऊंगा ? मैं हूं कि नहीं ? मैं क्या हूं ? मैं कैसे हूं ? यह सत्त्व कहांसे आया ? यह कहां जायगा ?"

भगवान् बुद्धका कहना है कि अयोनिसो मनसिकारसे नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते हैं। अतएव इन प्रश्नोंके विचारमें लगना साधकके लिए अनुचित है।[2]

---

[1] संयुक्तनिकाय XVI, 12. 1 ;XXII 86
मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्यसुत्त ६३।

[2] मज्झिमनिकाय—सब्बासव सुत्त २.

इन प्रश्नोंके विचारका फल बताते हुए भ० बुद्धने कहा है कि अयोनिसो मानसिकारके कारण इन छः दृष्टिओंमेंसे कोई एक दृष्टि उत्पन्न होती है उसमें फँसकर अज्ञानी पृथग्जन जरा-मरणादिसे मुक्त नहीं होता ।

(१) मेरी आत्मा है ।
(२) मेरी आत्मा नहीं है ।
(३) मैं आत्माको आत्मा समझता हूँ ।
(४) मैं अनात्माको आत्मा समझता हूँ ।
(५) यह जो मेरी आत्मा है वह पुण्य और पाप कर्मके विपाककी भोक्त्री है ।
(६) यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामधर्मा है, जैसी है वैसी सदैव रहेगी ।[1]

अतएव उनका उपदेश है कि इन प्रश्नोंको छोड़कर दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधका मार्ग इन चार आर्यसत्योंके विषयमें ही मनको लगाना चाहिए उसीसे आस्रवनिरोध होकर निर्वाणलाभ हो सकता है ।

भ० बुद्धके इन उपदेशोंके विपरीत ही भगवान् महावीरका उपदेश है । इस बातकी प्रतीति प्रथम अंग आचारांगके प्रथम वाक्यसे ही हो जाती है ।

" इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ तंजहा–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा······अन्नयरीओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि । एवमेगेसिं नो नायं भवइ–अत्थि मे आया उववाइए नत्थि मे आया उववाइए ? के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ? ‘से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा तंजहा पुरत्थिमाओ·······एवमेगेसिं नायं भवइ–अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोहं से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई ।"

भगवान् महावीरके मतसे जबतक अपनी या दूसरेकी बुद्धिसे यह पता न लग जाय कि मैं या मेरा जीव एक गतिसे दूसरी गतिको प्राप्त होता है, जीव कहाँसे आया, कौन था और कहाँ जायगा ? तब तक कोई जीव आत्मवादी नहीं हो सकता, लोकवादी नहीं हो सकता, कर्म और क्रियावादी नहीं हो सकता । अतएव आत्माके विषयमें विचार करना यही संवरका और मोक्षका भी कारण

---

[1] मज्झिमनिकाय सब्वासवसुत्त २

है। जीवकी गति और आगतिके ज्ञानसे मोक्षलाभ होता है इस बातको भ० महावीरने स्पष्ट रूपसे कहा है:—

“इह आगइं गइं परिन्नाय अच्चेइ जाइमरणस्स वडमग विक्खाय-रए” -आचा० १. ५. ६.

यदि तथागतकी मरणोत्तर स्थिति-अस्थितिके प्रश्नको ईश्वर जैसे किसी अतिमानवके पृथक् अस्तित्व और नास्तित्वका प्रश्न समझा जाय तब भगवान् महावीरका इस विषयमें मन्तव्य क्या है यह भी जानना आवश्यक है। जैनधर्ममें वैदिक दर्शनोंकी तरह शाश्वत सर्वज्ञ ईश्वरका-जो कि संसारी कभी नहीं होता, कोई स्थान नहीं। भ० महावीरके अनुसार सामान्य जीव ही कर्मोंका नाश करके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है जो सिद्ध कहलाता है। और एकबार शुद्ध होनेके बाद वह फिर कभी अशुद्ध नहीं होता। यदि भ० बुद्ध, तथागतकी मरणोत्तर स्थितिका स्वीकार करते तब ब्रह्मवाद या शाश्वतवादकी आपत्तिका उन्हें भय था और यदि वे ऐसा कहते कि तथागत मरणके बाद नहीं रहता तब भौतिकवादिओंके उच्छेदवादका प्रसंग आता। अतएव इस प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत कोटि में रखा। परन्तु भ० महावीरने अनेकान्तवादका आश्रय करके उत्तर दिया है कि तथागत या अर्हत् मरणोत्तर भी हैं क्यों कि जीव द्रव्य तो [1]नष्ट होता नहीं। वह सिद्ध-स्वरूप बनता है। किन्तु मनुष्यरूप जो कर्मकृत है वह नष्ट हो जाता है। अतएव सिद्धावस्थामें अर्हत् या तथागत अपने पूर्वरूपमें नहीं भी होते हैं। नाना जीवोंमें आकार-प्रकारका जो कर्मकृत भेद संसारावस्थामें होता है वह सिद्धावस्थामें नहीं क्योंकि वहाँ कर्म भी नहीं।

“कम्मओ णं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ?”

“हंता गोयमा।” -भगवती १२. ५. ४५२

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन प्रश्नों को भगवान् बुद्धने निरर्थक बताया है उन्हीं प्रश्नोंसे भगवान् महावीरने आध्यात्मिक जीवनका प्रारंभ माना है। अतएव उन प्रश्नों को भ० महावीरने भ० बुद्ध की तरह अव्याकृत कोटिमें न रखकर व्याकृत ही किया है।

इतनी सामान्य चर्चाके बाद अब आत्माके नित्यानित्यताके प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाता है:-

---

१. “अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सन्नं निवसए”-सूत्रकृतांग २. ५. २५

भगवान् बुद्ध का कहना है कि तथागत मरणानन्तर होता है या नहीं? ऐसा प्रश्न अन्यतीर्थिकों को अज्ञानके कारण होता है। उन्हें[1] रूपादिका अज्ञान है अतएव वे ऐसा प्रश्न करते हैं। वे रूपादि को आत्मा समझते हैं या आत्मा को रूपादियुक्त समझते हैं या आत्मामें रूपादि को समझते हैं या रूपमें आत्मा को समझते हैं जब कि तथागत वैसा नहीं समझते।[2]

अतएव तथागत को वैसे प्रश्न भी नहीं उठते और दूसरों के ऐसे प्रश्नको वे अव्याकृत बताते हैं। मरणानन्तर रूप, वेदना आदि प्रहीण हो जाता है अतएव अब प्रज्ञापनाके साधन रूपादिके न होनेसे तथागतके लिये "है" या "नहीं है" ऐसा व्यवहार किया नहीं जा सकता। अतएव मरणानन्तर तथागत 'है' या 'नहीं है' इत्यादि प्रश्नोंको मैं अव्याकृत बताता हूँ।[3]

हम पहले बतला आये हैं कि इस प्रश्नके उत्तरमें भ० बुद्धको शाश्वतवाद या उच्छेदवादमें पड़ जानेका डर था इसीलिये उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकृत कोटिमें रखा है। जब कि भ० महावीरने दोनों वादों का समन्वय स्पष्टरूपसे किया है। अतएव उन्हें इस प्रश्न को अव्याकृत कहने की आवश्यकता ही नहीं। उन्होंने जो व्याकरण किया है उसकी चर्चा नीचे की जाती है—

भ० महावीरने जीवको अपेक्षाभेदसे शाश्वत और अशाश्वत कहा है। इसकी स्पष्टताके लिए निम्न संवाद पर्याप्त है:—

"जीवा णं भंते? किं सासया असासया?

गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।"—भग० ७. २. २७३

स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे जीव नित्य है और भाव अर्थात् पर्यायकी दृष्टिसे जीव अनित्य है। ऐसा मन्तव्य भ०महावीरका है। इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनोंके समन्वयका प्रयत्न है। चेतन-जीवद्रव्य का विच्छेद कभी नहीं होता इस दृष्टिसे जीव को नित्य मान करके शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया है और जीवकी नाना अवस्थाएँ जो स्पष्टरूपसे विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं उनकी अपेक्षासे उच्छेदवादको भी प्रश्रय दिया है। उन्होंने इस बातका स्पष्टरूपसे स्वीकार किया है कि ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं इसी लिये उनका परिवर्तन होता है किन्तु चेतनद्रव्य शाश्वत-स्थिर है। जीवगत बालत्व

---

[1] संयुत्तनिकाय XXXIII

[2] संयुत्तनिकाय XLIV 8

[3] संयुत्तनिकाय XLIV.

पाण्डित्यादि अस्थिर धर्मोका परिवर्तन होगा जब कि जीवद्रव्य तो शाश्वत ही रहेगा ।

"से नूणं भंते ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ, सासए बालए बालियत्तं असासयं, सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं ?" हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं ।"—भगवती १. ९. ८०

द्रव्यार्थिक नयका दूसरा नाम अव्युच्छित्तिनय है और भावार्थिक नयका दूसरा नाम व्युच्छित्तिनय है । इससे भी यही फलित होता है कि द्रव्य अविच्छिन्न-ध्रुव-शाश्वत होता है और पर्यायका विच्छेद-नाश होता है अतएव वह अध्रुव-अनित्य-अशाश्वत है । जीव और उसके पर्यायका अर्थात् द्रव्य और पर्यायका परस्पर अभेद और भेद भी इष्ट है इसीलिये जीव द्रव्यको जैसे शाश्वत और अशाश्वत बताया इसी प्रकार जीवके नारक, वैमानिक आदि विभिन्न पर्यायोंको भी शाश्वत और अशाश्वत बताया है । जैसे जीवको द्रव्यकी अपेक्षासे अर्थात् जीवद्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा वैसे ही नारकको भी जीवद्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है और जैसे जीवद्रव्यको नारकादि पर्याय की अपेक्षासे अनित्य कहा है वैसे ही नारक जीव को भी नारकत्वरूप पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य कहा है ।

"नेरइया णं भंते किं सासया असासया ?"

"गोयमा! सिय सासया सिय असासया ।"

"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?"

"गोयमा ! अव्वोच्छित्तिणयट्ठाए सासया बोच्छित्तिणयट्ठाए असासया । एवं जाव वेमाणिया । —भगवती–७. ३. २७९

जमालीके साथ हुए प्रश्नोत्तरोंमें भगवान्ने जीवकी शाश्वतता और अशाश्वतताके मन्तव्यका जो स्पष्टीकरण किया है उससे नित्यतासे उनका क्या मतलब है व अनित्यतासे क्या मतलब ? यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है:-

सासए जीवे जमाली ! जं न कयाइ णासी णो कयावि न भवति ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे असासए जीवे जमाली ! जन्न नेरइए भविता तिरिक्खजोणिए भवइ तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवइ ।"

–भगवती ९. ६. ३८७–१. ४. ४२

तीनों कालमें ऐसा कोई समय नहीं जब कि जीव न हो। इसीलिए जीव शाश्वत-ध्रुव-नित्य कहा जाता है किन्तु जीव नारक मिटकर तिर्यञ्च होता है और तिर्यंच मिटकर मनुष्य होता है। इस प्रकार जीव क्रमशः नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है अतएव उन अवस्थाओं की अपेक्षासे जीव अनित्य अशाश्वत अध्रुव है अर्थात् अवस्थाओंके नाना होते रहने पर भी जीवत्व कभी लुप्त नहीं होता पर जीवकी अवस्थाएं लुप्त होती रहती हैं इसीलिए जीव शाश्वत और अशाश्वत है।

इस व्याकरणमें उपनिषदऋषि-सम्मत आत्मा की नित्यता और भौतिकवादी सम्मत आत्मा की अनित्यताके समन्वय का सफल प्रयत्न है अर्थात् भगवान् बुद्धके अशाश्वतानुच्छेदवादके स्थानमें शाश्वतोच्छेदवाद की स्पष्टरूपसे प्रतिष्ठा की गई है।

जीव की सान्तता-अनन्तता

जैसे लोककी सान्तता और निरन्तताके प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत बताया है वैसे जीवकी सान्तता-निरन्तताके प्रश्नके विषयमें उनका मन्तव्य स्पष्ट नहीं है। यदि कालकी अपेक्षासे सान्तता-निरन्तता विचारणीय हो तब तो उनका अव्याकृत मत पूर्वोक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है परन्तु द्रव्यकी दृष्टिसे या देशकी-क्षेत्र की दृष्टिसे या पर्याय अवस्थाकी दृष्टिसे जीवकी सान्तता-निरन्तताके विषय में उनके विचार जाननेका कोई साधन नहीं है। जब कि भगवान् महावीरने जीवकी सान्तता-निरन्तताका भी विचार स्पष्ट रूपसे किया है क्यों कि उनके मतसे जीव एक स्वतन्त्र तत्त्व रूपसे सिद्ध है इसीसे कालकृत नित्यानित्यताकी तरह, द्रव्य-क्षेत्र काल-भावकी अपेक्षासे उसकी सान्तता-अनन्तता भी उनको अभिमत है।

स्कंदक परिव्राजकका मनोगत प्रश्न जीवकी सान्तता-अनन्तताके विषयमें था। उसका निराकरण भगवान् महावीरने इन शब्दोंमें किया है—

"जे वि य खंदया! जाव सअन्ते श्रीवे अणन्ते जीवे तस्स वि य णं एयमट्ठे-एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअन्ते, खेतओ णं जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण से अन्ते, कालओ णं जीवे न कया वि न आसि जाव निच्चे नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता दंसणपज्जवा अणंता णाणपज्जवा अणंता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अन्ते।" —भगवती २. १. ९०

सारांश यह है कि एक जीव-व्यक्ति—

द्रव्यसे सान्त
क्षेत्रसे सान्त

कालसे अनन्त और
भावसे अनन्त है ।

इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी ।

ऐसा भगवान् महावीरका मन्तव्य है । इसमें कालकी दृष्टिसे और पर्यायों की अपेक्षासे उसका कोई अन्त नहीं । किन्तु वह द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षासे सान्त है ऐसा कहकरके भगवान् महावीरने आत्माके "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस उपनिषद् मतका निराकरण किया है ।

क्षेत्रकी दृष्टिसे "आत्माकी व्यापकता" यह भगवान्का मन्तव्य नहीं । और एक आत्म-द्रव्य ही सब कुछ है, यह भी भगवान् महावीरको मान्य नहीं किन्तु आत्म-द्रव्य स्वपर्याप्त है और उसका क्षेत्र भी मर्यादित है, इस बातको स्वीकार करके उन्होंने उसे सान्त कहते हुए भी कालकी दृष्टिसे अनन्त भी कहा है । एक दूसरी दृष्टिसे भी उन्होंने उसे अनन्त कहा है– जीवके ज्ञान-पर्यायोंका कोई अन्त नहीं, उसके दर्शन और चारित्र पर्यायोंका भी कोई अन्त नहीं, क्यों कि प्रत्येक क्षणमें इन पर्यायोंका नया-नया आविर्भाव होता रहता है और पूर्व पर्याय नष्ट होते रहते हैं । इस भाव-पर्याय दृष्टिसे भी जीव अनन्त है ।

बुद्ध का अनेकान्तवाद

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्धके सभी अव्याकृत प्रश्नोंका व्याकरण भ० महावीरने स्पष्टरूपसे विधिमार्गका स्वीकार करके किया है और अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है । इसका मूल आधार यही है कि एक ही व्यक्तिमें अपेक्षाके भेदसे अनेक संभवित विरोधी धर्मोंकी घटना करना । मनुष्य-स्वभाव समन्वयशील तो है ही किन्तु सर्वदा कई कारणों से उस स्वभावका आविर्भाव ठीक रूपसे हो नहीं पाता, इसी लिए समन्वयके स्थानमें दार्शनिकोंमें विवाद देखा जाता है और जहाँ दूसरोंको स्पष्ट रूपसे समन्वयकी संभावना दीखती है वह भी अपने पूर्वग्रहोंके कारण दार्शनिकोंको विरोधकी गंध आती है । भगवान् बुद्ध को उक्त प्रश्नोंका उत्तर अव्याकृत देना पड़ा । इसका कारण यह है कि उनको आध्यात्मिक उन्नति में इन जटिल प्रश्नोंकी चर्चा निरर्थक प्रतीत हुई अतएव इन प्रश्नोंको सुलझानेका उन्होंने कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया किन्तु इसका मतलब यह कभी नहीं कि उनके स्वभावमें समन्वयका तत्त्व बिलकुल नहीं था । उनकी समन्वयशीलता सिंह सेनापतिके साथ हुए संवादसे स्पष्ट है । भगवान् बुद्धको अनात्मवादी होनेके कारण कुछ लोग अक्रियावादी कहते थे, अतएव सिंह-

सेनापतिने भ० बुद्धसे पूछा कि आपको कुछ लोग अक्रियावादी कहते हैं तो क्या यह ठीक है ? इसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ कहा उसीमें उनकी समन्वयशीलता और अनेकान्तवादिता स्पष्ट होती है ।

उत्तरमें उन्होंने कहा कि—"सच है, मैं अकुशल संस्कारकी अक्रियाका उपदेश देता हूं इसलिए मैं अक्रियावादी हूँ और कुशलसंस्कारकी क्रिया मुझे पसन्द है और मैं उसका उपदेश देता हूं, इसीलिए मैं क्रियावादी भी हूं[1] ।"

इसी समन्वय-प्रकृतिका प्रदर्शन अन्यत्र दार्शनिक क्षेत्र में भी यदि भ० बुद्ध ने किया होता तो उनकी प्रतिभा और प्रज्ञाने दार्शनिकोंके सामने एक नया मार्ग उपस्थित किया होता । किन्तु यह कार्य भ० महावीरकी शान्त और स्थिर प्रकृति से ही होने वाला था इसलिए भ० बुद्धने आर्य चतुःसत्यके उपदेशमें ही कृतकृत्यता का अनुभव किया तब भगवान् महावीरने जो बुद्धसे न हो सका उसे करके दिखाया और वे अनेकान्तवादके प्रज्ञापक हुए ।

अब तक मुख्यरूपसे भगवान् बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंको लेकर जैनागमाश्रित अनेकान्तवादकी चर्चा की गई है । आगे अन्य प्रश्नोंके सम्बन्धमें अनेकान्तवादके विस्तारकी चर्चा करना इष्ट है परन्तु इस चर्चाके प्रारम्भ करनेके पहले पूर्वोक्त* "कर्म स्वयं कृत है या नहीं[2]" इत्यादि प्रश्नका समाधान भ० महावीरने क्या किया है उसे देख लेना उचित है । भ० बुद्धने तो अपनी प्रकृतिके अनुसार उन सभी प्रश्नोंका उत्तर निषेधात्मक दिया है क्योंकि ऐसा न कहते तो उनको उच्छेदवाद और शाश्वतवादकी आपत्तिका भय था । किन्तु भगवान्‌का मार्ग तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के समन्वयका मार्ग है अतएव उन प्रश्नोंका समाधान विधिरूपसे करनेमें उनको कोई भय नहीं था । उनसे प्रश्न किया गया कि क्या कर्मका कर्ता स्वयं है, अन्य है या उभय है ? इसके उत्तरमें भगवान महावीरने कहा कि कर्मका कर्ता आत्मा स्वयं है, पर नहीं है और न स्वपरोभय[3] । जिसने कर्म किया है वही उसका भोक्ता है ऐसा माननेमें ऐकान्तिक शाश्वतवादकी आपत्ति भ० महावीरके मतमें नहीं आती क्यों कि जिस अवस्थामें किया था उससे दूसरी ही अवस्थामें कर्मका फल भोगा जाता है तथा भोक्तृत्व अवस्थासे कर्मकर्तृत्व अवस्थाका भेद होने पर भी ऐकान्तिक उच्छेदवादकी आपत्ति इस लिये नहीं आती कि भेद होते हुए भी जीव-द्रव्य दोनों अवस्थामें एक ही मौजूद है ।

---

[1] विनय पिटक महावग्ग VI. 31

[2] अंगुत्तर निकाय Part IV P. 179

[3] भगवती १. ६. ५३.

* देखिए पृष्ठ २४

‘SANMATI’ PUBLICATIONS

	World Problems and Jain Ethics **by Dr. Beni Prasad**	**Price 6 Ans.**
1.	जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा ले०—प्रो० दलसुखभाई मालवणिया	(अप्राप्य) मूल्य चार आने
2.	**Jainism in Indian History** **by Dr. Bool Chand**	(अप्राप्य) **Price 4 Ans.**
3.	विश्व-समस्या और व्रत-विचार ले०—डॉ० बेनीप्रसाद	मूल्य चार आने
4.	**Constitution**	**Price 4 Ans.**
5.	अहिंसा की साधना ले०—श्री काका कालेलकर	मूल्य चार आने
6.	परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण	मूल्य चार आने
7.	**Jainism in Kalingadesa** **by Dr. Bool Chand**	**Price 4 Ans.**
8.	भगवान् महावीर ले०—श्री दलसुखभाई मालवणिया	मूल्य चार आने
9.	**Mantra Shastra and Jainism** **by Dr. A. S. Altekar**	**Price 4 Ans.**
10.	जैन-संस्कृति का हृदय ले०—पं० सुखलालजी संघवी	मूल्य चार आने
11.	भ० महावीरका जीवन–[एक ऐतिहासिक दृष्टिपात] ले०–पं० सुखलालजी संघवी	” ”
12.	जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद ले०–पं० सुखलालजी तथा डॉ० राजबलि पाण्डेय	” ”

IN THE PRESS

Lord MAHAVIRA : His Life and Work
by Dr. Bool Chand
Noble Teachings of Lord Mahavira
by Dalsukh Malvania and Shantilal Sheth

IN PREPARATION

S’ramanic Culture
by Dr. Bool Chand
Spread of Jainism in India
by Dr. R. S. Tripathi
Morality and Religion in Jainism
By Nathmal Tatia M. A.

निर्ग्रन्थ-परम्परा
ले०–पं० सुखलालजी संघवी
स्याद्वाद और सप्तभंगी
ले०–श्री दलसुखभाई मालवणिया

Write to :— *The Secretary,*

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY
BENARES HINDU UNIVERSITY.

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।